

Chapter अस्सी

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपने ब्राह्मण मित्र की पूजा की, जो उनके महल में दान माँगने आया था और किस तरह उन्होंने उन लीलाओं की चर्चा की, जिनमें उन्होंने अपने गुरु सान्दीपनि मुनि के घर में रहते हुए भाग लिया था।

भगवान् कृष्ण का अन्तरंग मित्र ब्राह्मण सुदामा पूरी तरह निष्काम था। उसे जो कुछ अपने आप मिल जाता, उसी से वह अपना तथा अपनी पत्नी का भरण-पोषण करता था। इस तरह वे निर्धनता में जी रहे थे। एक दिन, जब सुदामा की पत्नी अपने पति के लिए भोजन तैयार करने के लिए कुछ न

जुटा पाई, तो वह सुदामा के पास गई और उससे कहा कि वह द्वारका में रह रहे अपने मित्र कृष्ण के पास जाकर कुछ दान माँगे। सुदामा पहले तो हिचका, किन्तु जब पत्नी ने बहुत आग्रह किया, तो वह यह सोच कर जाने के लिए तैयार हो गया कि भगवान् से भेंट करने का यह अतीव शुभ अवसर होगा। उसकी पत्नी श्रीकृष्ण को उपहार में देने के लिए मुट्ठी-भर चावल माँग लाई और सुदामा द्वारका के लिए प्रस्थान कर गया।

जब सुदामा भगवान् कृष्ण की पटरानी रुक्मिणीदेवी के महल के निकट पहुँचा, तो भगवान् ने उसे दूर से ही देख लिया। कृष्ण तुरन्त ही रुक्मिणी के बिस्तर से उठ खड़े हुए और उन्होंने अतीव हर्षपूर्वक अपने मित्र का आलिंगन किया। फिर उन्होंने सुदामा को बिस्तर पर बिठाया, अपने हाथों से उसके पाँव धोये और इस जल को अपने सिर पर छिड़का। इसके बाद उन्होंने उसे अनेक भेंटें दीं और धूप, दीप इत्यादि से उसकी पूजा की। इस बीच रुक्मिणी उस फटे-पुराने वस्त्रधारी ब्राह्मण पर चामर झलती रहीं। इससे महल के वासियों को आश्चर्य हुआ।

तब कृष्ण ने अपने मित्र का हाथ अपने हाथ में ले लिया और अपने गुरु की पाठशाला में बहुत काल पूर्व रहते हुए, जो कुछ उन्होंने मिल कर किया था उसका स्मरण करते रहे। सुदामा ने यह इंगित किया कि कृष्ण शिक्षा प्राप्त करने की लीला में इसीलिए प्रवृत्त होते हैं कि मानव समाज के समक्ष आदर्श उपस्थित हो सके।

श्रीराजोवाच

भगवन्त्यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; भगवन्—हे प्रभु (शुकदेव गोस्वामी); यानि—जो; च—तथा; अन्यानि—अन्य लोगों के; मुकुन्दस्य—भगवान् कृष्ण का; महा-आत्मनः—परमात्मा; वीर्याणि—वीरतापूर्ण कार्य; अनन्त—असंख्य; वीर्यस्य—बहादुरी के; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; हे प्रभो—हे स्वामी।

राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु, हे स्वामी, मैं उन असीम शौर्य वाले भगवान् मुकुन्द द्वारा सम्पन्न अन्य शौर्यपूर्ण कार्यों के विषय में सुनना चाहता हूँ।

को नु श्रुत्वासकृद्ब्रह्मन्नुत्तमःश्लोकसत्कथाः ।

विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; श्रुत्वा—सुनकर; असकृत्—बारम्बार; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; उत्तमः—श्लोक—भगवान् कृष्ण की; सत्—दिव्य; कथाः—कथाएँ; विरमेत—अपने को अलग रख सकता है; विशेष—(जीवन) का सार; ज्ञः—जानने वाला; विषण्णः—खिन्न; काम—भौतिक इच्छा की; मार्गणैः—खोज के साथ।

हे ब्राह्मण, जो जीवन के सार को जानता है और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए प्रयास करने से ऊब चुका हो, वह भगवान् उत्तमश्लोक की दिव्य कथाओं को बारम्बार सुनने के बाद भला उनका परित्याग कैसे कर सकता है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँ पर यह टीका करते हैं कि ऐसे अनेक लोग देखे जाते हैं, जो भगवान् की कथाओं को बारम्बार सुनने के बाद भी अपना आध्यात्मिक समर्पण त्याग देते हैं। आचार्य यह उत्तर देते हैं कि इसीलिए विशेषज्ञ शब्द यहाँ पर सार्थक है। जिन्होंने वास्तव में जीवन-सार को समझ लिया है वे कृष्णभावनामृत का परित्याग नहीं करते। जो अन्य योग्यता होनी चाहिए वह है विषण्णः काममार्गणैः—भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति से खिन्न होना। ये दोनों गुण पूरक हैं। जिसने कृष्णभावनामृत का असली आस्वादन कर लिया है, वह भौतिक आनन्द के निकृष्ट आस्वाद से स्वयमेव ऊब जाता है। कृष्ण-कथाओं का ऐसा प्रामाणिक श्रोता भगवान् की मोहक लीलाओं के श्रवण का कभी भी परित्याग नहीं कर सकता।

सा वाग्यया तस्य गुणान्गृणीते

करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।

स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु

शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा—वही (है); वाक्—बोलने की शक्ति, वाणी; यया—जिससे; तस्य—उसके; गुणान्—गुणों को; गृणीते—वर्णन करती है; करौ—दो हाथ; च—तथा; तत्—उसके; कर्म—कार्य; करौ—करते हुए; मनः—मन; च—तथा; स्मरेत्—स्मरण करता है; वसन्तम्—निवास करते हुए; स्थिर—जड़; जङ्गमेषु—चेतन के भीतर; शृणोति—सुनता है; तत्—उसके; पुण्य—पवित्र करने वाली; कथाः—कथाएँ; सः—वही (है); कर्णः—कान।

असली वाणी वही है, जो भगवान् के गुणों का वर्णन करती है, असली हाथ वे हैं, जो उनके लिए कार्य करते हैं, असली मन वह है, जो प्रत्येक जड़-चेतन के भीतर निवास करने वाले उन भगवान् का सदैव स्मरण करता है और असली कान वे हैं, जो निरन्तर उनकी पुण्य कथाओं का श्रवण करते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् को समर्पित श्रवणेन्द्रिय की प्रशंसा कर चुकने के बाद, राजा परीक्षित अन्य इन्द्रियों का भी उल्लेख करते हैं, जिससे हमें कृष्णभावनामृत का पूरा चित्र प्राप्त हो सके। यहाँ वे बतलाते हैं कि शरीर के सारे अंग व्यर्थ हो जाते हैं, यदि उनका सम्बन्ध कृष्ण से नहीं रहता। द्वितीय स्कंध के तीसरे अध्याय में श्लोक २० से २४ में शौनक ऋषि द्वारा ऐसा ही कथन दिया गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि कृष्णभावनामृत में सारी इन्द्रियों को मिल-जुलकर कार्य करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आँखें या कान चाहें जो भी अनुभव करें, मन को तो एकमात्र अन्तर्यामी कृष्ण का ही स्मरण करना चाहिए।

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमान-

मेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।

अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां

पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

शिरः—सिर; तु—तथा; तस्य—उसका; उभय—दोनों; लिङ्गम्—अभिव्यक्ति के लिए; आनमेत्—नमन करता है; तत्—वही; एव—एकमात्र; यत्—जो; पश्यति—देखती है; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; चक्षुः—आँख; अङ्गानि—अंग; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; अथ—अथवा; तत्—उसके; जनानाम्—भक्तों के; पाद-उदकम्—चरणों के धोने से प्राप्त जल को; यानि—जो; भजन्ति—सम्मान करते हैं; नित्यम्—नियमित रूप से।

वास्तविक सिर वही है, जो जड़-चेतन के बीच भगवान् की अभिव्यक्तियों को नमन करता है। असली आँखें वे हैं, जो एकमात्र भगवान् का दर्शन करती हैं और असली अंग वे हैं, जो भगवान् या उनके भक्तों के चरणों को पखारने से प्राप्त जल का नियमित रूप से आदर करते हैं।

सूत उवाच

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान्बादरायणिः ।

वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; विष्णु-रातेन—विष्णुरात (महाराज परीक्षित) द्वारा; सम्पृष्टः—भलीभाँति पूछे गये; भगवान्—शक्तिमान ऋषि; बादरायणिः—शुकदेव; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; निमग्न—पूर्णतया मग्न; हृदयः—हृदय वाले; अब्रवीत्—बोले।

सूत गोस्वामी ने कहा : विष्णुरात द्वारा इस तरह प्रश्न किये जाने पर शक्तिसम्पन्न ऋषि बादरायणि ने, जिनका हृदय भगवान् वासुदेव के ध्यान में पूर्णतया लीन रहता था, यह उत्तर दिया।

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीत्सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कृष्णस्य—कृष्ण का; आसीत्—था; सखा—मित्र (सुदामा नामक); कश्चित्—कोई; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ब्रह्म—वेदों का; वित्-तमः—अत्यन्त विद्वान्; विरक्तः—उदासीन; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रिय-भोग की वस्तुओं से; प्रशान्त—शान्त; आत्मा—मन वाला; जित—जीती हुई; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण का एक ब्राह्मण मित्र (सुदामा नामक) था, जो वैदिक ज्ञान में प्रकाण्ड पंडित था और समस्त इन्द्रिय-भोग से उदासीन था। इससे भी बढ़कर, उसका मन शान्त था और उसकी इन्द्रियाँ संयमित थीं।

यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।

तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—स्वेच्छा से; उपपन्नेन—जो कुछ मिलता था, उससे; वर्तमानः—उस समय; गृह-आश्रमी—गृहस्थ जीवन में; तस्य—उसकी; भार्या—पत्नी; कु-चैलस्य—मैले-कुचैले वस्त्र पहने; क्षुत्—भूख से; क्षामा—दुर्बल; च—तथा; तथा-विधा—उसी तरह।

गृहस्थ के भाँति रहते हुए जो कुछ उसे अपने आप मिल जाता वह उसी से भरण-पोषण करता था। मैले-कुचैले वस्त्रधारी उस ब्राह्मण की पत्नी उसके साथ कष्ट भोग रही थी और भूख के कारण दुबली हो गई थी।

तात्पर्य : सुदामा की पतिव्रता पत्नी भी मैले-कुचैले वस्त्र पहनती थी और उसे जो भी भोजन मिलता वह अपने पति को ही दे देती थी। इस तरह वह भूख से थकी-थकी रहती थी।

पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ।

दरिद्रं सीदमाना वै वेपमानाभिगम्य च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पति-व्रता—अपने पति के प्रति आज्ञाकारिणी; पतिम्—अपने पति से; प्राह—कहा; म्लायता—मुरझाये हुए; वदनेन—मुख से; सा—उसने; दरिद्रम्—गरीब; सीदमाना—पीड़ित; वै—निस्सन्देह; वेपमाना—काँपते हुए; अभिगम्य—पास आकर; च—तथा ।
एक बार उस गरीब ब्राह्मण की सती-साध्वी पत्नी उसके पास आई। उसका मुख त्रास के

कारण सूखा था। भय से काँपते हुए वह इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार वह पतिव्रता स्त्री विशेष रूप से दुखी थी, क्योंकि उसे अपने पति को खिलाने के लिए भोजन नहीं मिल रहा था। साथ ही वह अपने पति के पास जाने से डर रही थी, क्योंकि वह जानती थी कि उसका पति भगवान् की भक्ति के सिवा अन्य किसी वस्तु की याचना नहीं करना चाहता था।

ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ।

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निस्सन्देह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवतः—आपका; सखा—मित्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्रियः—लक्ष्मी का; पतिः—पति; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मणों के प्रति सद्य; च—तथा; शरण्यः—शरण देने के लिए इच्छुक; च—तथा; भगवान्—भगवान्; सात्वत—यादवों में; ऋषभः—श्रेष्ठ।

[सुदामा की पत्नी ने कहा] : हे ब्राह्मण, क्या यह सत्य नहीं है कि लक्ष्मीजी के पति आपके निजी मित्र हैं? यादवों में सर्वश्रेष्ठ वे भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों पर दयालु हैं और उन्हें अपनी शरण देने के लिए अतीव इच्छुक हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हुए बतलाते हैं कि ब्राह्मण की पत्नी ने किस तरह अपने पति द्वारा सभी संभव आपत्तियों की पहले से ही कल्पना करके अनुमान लगा लिया था, जो कृष्ण के पास दान लेने जाने के उसके आग्रह पर वह आपत्ति उठा सकता था। यदि ब्राह्मण यह कहेगा कि “लक्ष्मीपति किस तरह से मुझ जैसे दरिद्र को अपना मित्र बनायेगा, तो वह यह उत्तर देगी कि भगवान् कृष्ण ब्रह्मण्य हैं अर्थात् ब्राह्मणों पर अनुकूल भाव रखने वाले हैं। यदि सुदामा यह कहेगा कि उनमें उसकी सच्ची भक्ति नहीं है, तो वह यह कहेगी कि तुम महान् एवं बुद्धिमान पुरुष हो जिसे अवश्य ही भगवान् शरण तथा कृपा प्रदान करेंगे (शरण्यम्)। यदि ब्राह्मण यह आपत्ति करेगा कि भगवान् उन असंख्य दुखियारे बद्धजीवों पर समान रूप से कृपा करने वाले हैं, जो अपने कर्मों के फल भोग रहे हैं, तो वह उत्तर देगी कि भगवान् कृष्ण भगवद्भक्तों पर विशेष रूप से कृपालु हैं। अतएव यदि वे स्वयं सुदामा पर कृपा नहीं भी करेंगे तो उनकी सेवा में लगे भक्तगण अवश्य ही उस पर दया

करके दान में कुछ न कुछ देंगे। चूँकि भगवान् सात्वतों अर्थात् यदुवंशियों की रक्षा करने वाले हैं, अतः उन्हें सुदामा जैसे विनीत ब्राह्मण की रक्षा करने में कौन-सी कठिनाई हो सकती है और उनके ऐसा करने में कौन-सी त्रुटि हो सकती है ?

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसके; उपैहि—पास जाओ; महा-भग—हे भाग्यवान्; साधूनाम्—साधुओं के; च—तथा; पर-अयणम्—चरम शरण; दास्यति—देगा; द्रविणम्—सम्पत्ति; भूरि—प्रचुर; सीदते—कष्ट पा रहे; ते—तुम्हें; कुटुम्बिने—परिवार का पालन-पोषण कर रहे।

हे भाग्यवान्, आप समस्त सन्तों के असली शरण, उनके पास जाइये। वे निश्चय ही आप जैसे कष्ट भोगने वाले गृहस्थ को प्रचुर सम्पदा प्रदान करेंगे।

आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान्भजतो नात्यभीष्टान्जगद्गुरुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—उपस्थित हैं; अधुना—इस समय; द्वारवत्याम्—द्वारका में; भोज-वृष्णि-अन्धक—भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के; ईश्वरः—स्वामी; स्मरतः—स्मरण करने वाले को; पाद-कमलम्—उनके चरणकमलों को; आत्मनाम्—स्वयं को; अपि—यहाँ तक कि; यच्छति—देता है; किम् नु—तो फिर क्या कहा जाय; अर्थ—आर्थिक सफलता; कामान्—तथा इन्द्रिय-तृप्ति को; भजतः—उनकी पूजा करने वाले को; न—नहीं; अति—अत्यधिक; अभीष्टान्—इच्छित; जगत्—सारे ब्रह्माण्ड के; गुरुः—गुरु।

इस समय भगवान् कृष्ण भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के शासक हैं और द्वारका में रह रहे हैं। चूँकि वे ऐसे भी व्यक्ति को, जो उनके चरणकमलों का केवल स्मरण करता हो अपने आपको दे देने वाले हैं, तो फिर इसमें क्या संशय है कि ब्रह्माण्ड के गुरु स्वरूप वे अपने निष्ठावान् आराधक को वैभव तथा भौतिक भोग प्रदान करेंगे, जो कोई विशेष अभीष्ट वस्तुएँ नहीं हैं ?

तात्पर्य : यहाँ ब्राह्मण-पत्नी इतना ही कहना चाहती है कि चूँकि भगवान् कृष्ण भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के शासक हैं, अतएव यदि ये ऐश्वर्यशाली शासकगण सुदामा को कृष्ण का अभिन्न मित्र मात्र मान लें, तो वे उसे हर वांछित वस्तु प्रदान कर सकते हैं।

इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह टीका करते हैं कि चूँकि इस समय कृष्ण अपने हथियार त्याग चुके थे, अतएव वे अपनी राजधानी द्वारका के बाहर यात्रा करने नहीं जाते। ऐसा ही श्रील प्रभुपाद ने भगवान् श्रीकृष्ण में लिखा है “ [ब्राह्मण-पत्नी ने कहा] मैंने तो सुना है कि वे कभी भी अपनी राजधानी द्वारका नहीं छोड़ते। वे वहाँ किसी बाह्य कार्य में व्यस्त हुए बिना रह रहे हैं।”

जैसाकि यहाँ पर उल्लेख हुआ है, भौतिक सम्पत्ति तथा इन्द्रिय-तृप्ति अत्यधिक वांछनीय नहीं हैं। इसका असली कारण यह है कि अन्ततोगत्वा इनसे असली तुष्टि प्राप्त नहीं हो पाती। तो भी सुदामा की पत्नी ने सोचा कि यदि सुदामा द्वारका जाँय और भगवान् के समक्ष मौन भी रहें फिर भी वे उन्हें प्रचुर सम्पदा तथा अपने चरणकमलों पर शरण प्रदान करेंगे जो कि सुदामा का असली ध्येय था।

स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः ।

अयं हि परमो लाभ उत्तमःश्लोकदर्शनम् ॥ १२ ॥

इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।

अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एवम्—इस प्रकार; भार्यया—अपनी पत्नी द्वारा; विप्रः—ब्राह्मण; बहुशः—अनेक प्रकार से; प्रार्थितः—प्रार्थना किया गया; मुहुः—पुनः पुनः; अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; परमः—परम; लाभः—लाभ; उत्तमः—श्लोक—भगवान् कृष्ण का; दर्शनम्—दर्शन; इति—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—सोच कर; मनसा—अपने मन में; गमनाय—जाने के लिए; मतिम् दधे—निर्णय किया; अपि—क्या; अस्ति—है; उपायनम्—उपहार; किञ्चित्—कुछ; गृहे—घर में; कल्याणि—मेरी अच्छी स्त्री; दीयताम्—मुझे दो।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : जब उसकी पत्नी ने उससे नाना प्रकार से अनुरोध किया, तो ब्राह्मण ने अपने मन में सोचा, “भगवान् कृष्ण के दर्शन करना निस्सन्देह जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।” अतएव उसने जाने का निश्चय कर लिया, किन्तु उसने पहले अपनी पत्नी से यों कहा, “हे कल्याणी, यदि घर में ऐसी कोई वस्तु हो, जिसे मैं भेंट रूप में ले जा सकूँ, तो मुझे दो।”

तात्पर्य : सुदामा प्रकृति से विनीत था और यद्यपि वह अपनी पत्नी के प्रस्ताव से पहले असन्तुष्ट था, किन्तु अन्त में उसने मन को स्थिर किया और जाने का निश्चय किया। अब उसे अपने मित्र के लिए कुछ उपहार चाहिए था।

याचित्वा चतुरो मुष्टीन्विप्रान्पृथुकतण्डुलान् ।

चैलखण्डेन तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

याचित्वा—माँग कर; चतुरः—चार; मुष्टीन्—मुट्टियाँ भर के; विप्रान्—(पड़ोसी) ब्राह्मणों से; पृथुक-तण्डुलान्—चिउड़ा, चावल; चैल—वस्त्र के; खण्डेन—टुकड़े से; तान्—उन्हें; बद्ध्वा—बाँध कर; भर्त्रे—अपने पति को; प्रादात्—दे दिया; उपायनम्—उपहार ।

सुदामा की पत्नी अपने पड़ोसी ब्राह्मणों से चार मुट्टी चावल (चिउड़ा) माँग लाई, उन्हें फटे वस्त्र के एक टुकड़े में बाँधा और भगवान् कृष्ण के लिए उपहार रूप में उसे अपने पति को दे दिया ।

स तानादाय विप्राच्छयः प्रययौ द्वारकां किल ।

कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तान्—उन्हें; आदाय—लेकर; विप्र-अच्छयः—ब्राह्मण-श्रेष्ठ; प्रययौ—चला गया; द्वारकाम्—द्वारका; किल—निस्सन्देह; कृष्ण-सन्दर्शनम्—भगवान् कृष्ण के दर्शन; मह्यम्—मुझे; कथम्—कैसे; स्यात्—हो सकेगा; इति—इस प्रकार; चिन्तयन्—सोचते हुए ।

वह साधु ब्राह्मण चिउड़ा लेकर द्वारका के लिए रवाना हो गया और लगातार विस्मित होता रहा, “मैं किस तरह कृष्ण के दर्शन कर सकूँगा?”

तात्पर्य : अन्य बातों में से सुदामा ने यह कल्पना की कि द्वारपाल उसे रोक लेंगे ।

त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च सद्विजः ।

विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ॥ १६ ॥

गृहं द्रव्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेद्विजः ।

विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

त्रीणि—तीन; गुल्मानि—रक्षकों की टोलियाँ; अतीयाय—पार करके; तिस्रः—तीन; कक्षाः—दरवाजे, ड्योढ़ियाँ; च—तथा; स-द्विजः—ब्राह्मण सहित; विप्रः—विद्वान् ब्राह्मण; अगम्य—दुर्गम; अन्धक-वृष्णीनाम्—अन्धकों तथा वृष्णियों के; गृहेषु—घरों के बीच; अच्युत—भगवान् कृष्ण; धर्मिणाम्—आज्ञाकारियों के; गृहम्—घर; द्वि—दो; अष्ट—आठ गुना; सहस्राणाम्—हजार; महिषीणाम्—रानियों के; हरेः—कृष्ण के; द्विजः—ब्राह्मण ने; विवेश—प्रवेश किया; एकतमम्—उनमें से एक; श्री-मत्—ऐश्वर्यवान्; ब्रह्म-आनन्दम्—निर्विशेष मुक्ति का आनन्द; गतः—प्राप्त; यथा—मानो ।

विद्वान् ब्राह्मण ने कुछ स्थानीय ब्राह्मणों के साथ मिलकर तीन सुरक्षा चौकियाँ पार कर लीं और तब वह तीन ड्योढ़ियों से होकर भगवान् कृष्ण के आज्ञाकारी भक्तों, अन्धकों तथा वृष्णियों के घरों के पास से गुजरा, जहाँ सामान्यतया कोई भी नहीं जा सकता था । तत्पश्चात् वह भगवान्

हरि की सोलह हजार रानियों के ऐश्वर्यशाली महलों में से एक में घुसा और ऐसा करते समय उसे ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह ब्रह्मानन्द प्राप्त कर रहा हो।

तात्पर्य : जब वह साधु सदृश ब्राह्मण भगवान् कृष्ण के महलों के अहाते में प्रविष्ट हुआ और फिर वस्तुतः उनमें से एक महल के भीतर गया तो उसे सबकुछ भूल गया। इस तरह उसकी मानसिक स्थिति की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है, जिसे अभी अभी ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने पद्म पुराण के उत्तर खण्ड से एक उद्धरण दिया है, जिससे हमें पता चलता है कि यह ब्राह्मण वास्तव में रुक्मिणी के महल में घुसा था—*स तु रुक्मिण्यन्तःपुरद्वारि कृष्णं तूष्णीं स्थितः*—वह रानी रुक्मिणी के महल के दरवाजे पर क्षण-भर चुप होकर खड़ा रहा।

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।

सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; विलोक्य—देखकर; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने; दूरात्—दूर से ही; प्रिया—अपनी प्रियतमा के; पर्यङ्कम्—बिस्तर पर; आस्थितः—आसीन; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—उठ कर; च—तथा; अभ्येत्य—आगे बढ़कर; दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं में; पर्यग्रहीत्—आलिंगन किया; मुदा—आनन्दपूर्वक।

उस समय भगवान् अच्युत अपनी प्रियतमा के पलंग पर विराजमान थे। उस ब्राह्मण को कुछ दूरी पर देखकर भगवान् तुरन्त उठ खड़े हुए और मिलने के लिए आगे गये और बड़े ही हर्ष से उसका आलिंगन किया।

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।

प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दूनेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सख्युः—अपने मित्र के; प्रियस्य—प्रिय; विप्र-ऋषेः—ब्राह्मण; अङ्ग—शरीर का; सङ्ग—संगति से; अति—अत्यधिक; निर्वृतः—आनन्दमय; प्रीतः—स्नेहिल; व्यमुञ्चत्—मुक्त किया; अप्—जल की; बिन्दून्—बूँदें; नेत्राभ्याम्—अपनी आँखों से; पुष्कर-ईक्षणः—कमल-नेत्र भगवान्।

कमलनयन भगवान् को अपने प्रिय मित्र विद्वान ब्राह्मण के शरीर का स्पर्श करने पर गहन आनन्द की अनुभूति हुई और उनकी आँखों से प्रेम के आँसू झरने लगे।

अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयम्सख्युः समर्हणम् ।

उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥ २० ॥

अग्रहीच्छिरसा राजन्भगवाँल्लोकपावनः ।

व्यलिम्पद्विव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥ २१ ॥

धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।

अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उपवेश्य—बैठाकर; पर्यङ्के—पलंग पर; स्वयम्—स्वयं; सख्युः—अपने मित्र के लिए; समर्हणम्—पूजा की सामग्री; उपहत्य—लाकर; अवनिच्य—धोकर; अस्य—उसके; पादौ—दोनों पाँव; पाद-अवनेजनीः—उसके पाँवों को धोने वाला जल; अग्रहीत्—धारण किया; शिरसा—सिर पर; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भगवान्—भगवान् ने; लोक—सारे लोकों के; पावनः—पवित्र करने वाले; व्यलिम्पत्—लेप किया; दिव्य—दैवी; गन्धेन—गन्ध से; चन्दन—चन्दन-लेप से; अगुरु—अगुरु; कुङ्कुमैः—तथा सिन्दूर से; धूपैः—धूप से; सुरभिभिः—सुगन्धित; मित्रम्—अपने मित्र को; प्रदीप—दीपकों की; अवलिभिः—पंक्तियों से; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; अर्चित्वा—पूजा करके; आवेद्य—नाशता कराकर; ताम्बूलम्—पान; गाम्—गाय; च—तथा; सु-आगतम्—स्वागत; अब्रवीत्—बोले।

भगवान् कृष्ण ने अपने मित्र सुदामा को बिस्तर पर बैठाया। फिर समस्त जगत को पवित्र करने वाले भगवान् ने स्वयं नाना प्रकार से उसका आदर किया और हे राजन्, उसके पाँव धोये तथा उसी जल को अपने सिर के ऊपर छिड़का। उन्होंने उसके शरीर पर दिव्य सुगन्धित चन्दन, अगुरु तथा कुंकुम का लेप किया और सुगन्धित धूप तथा दीपों की पंक्तियों से खुशी-खुशी उसकी पूजा की। अन्त में पान देने के बाद उसे दान में गाय दी और मधुर शब्दों से उसका स्वागत किया।

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसन्ततम् ।

देवी पर्यचरत्साक्षाच्चामरव्यजनेन वै ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कु—फटे-पुराने, बुरे; चैलम्—वस्त्र वाले; मलिनम्—मैले; क्षामम्—दुबले; द्विजम्—ब्राह्मण को; धमनि-सन्ततम्—जिसकी नसें दिख रही हों; देवी—धन की देवी, लक्ष्मी; पर्यचरत्—सेवा की; साक्षात्—सशरीर; चामर—चमरी गाय की पूछ से बने; व्यजनेन—पंखे से; वै—निस्सन्देह।

साक्षात् लक्ष्मी देवी ने अपनी चामर से पंखा झल कर, उस गरीब ब्राह्मण की सेवा की, जिसके वस्त्र फटे हुए और मैले थे और जो इतना दुर्बल था कि उसके सारे शरीर की नसें दिख रही थीं।

अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णोनामलकीर्तिना ।

विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—राजमहल के; जनः—लोग; दृष्ट्वा—देखकर; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; अमल—निर्मल, स्वच्छ; कीर्तिना—कीर्ति वाले; विस्मितः—चकित; अभूत्—हो गये; अति—अत्यधिक; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; अवधूतम्—अस्त-व्यस्त ब्राह्मण को; सभाजितम्—सम्मानित किया हुआ।

राजमहल के निवासी निर्मल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण को इस फटे-पुराने और मैले वस्त्र पहने ब्राह्मण का इतने प्रेम से सम्मान करते देख कर चकित हो गए।

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।

श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गर्हितेनाधमेन च ॥ २५ ॥

योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।

पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अनेन—उसके द्वारा; कृतम्—किया गया; पुण्यम्—पुण्य-कार्य; अवधूतेन—अस्वच्छ; भिक्षुणा—भिक्षुक या संन्यासी द्वारा; श्रिया—धन से; हीनेन—हीन, रहित; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; गर्हितेन—निन्दनीय; अधमेन—नीच; च—तथा; यः—जो; असौ—वही; त्रि—तीन; लोक—लोकों के; गुरुणा—गुरु द्वारा; श्री—लक्ष्मी के; निवासेन—घर से; सम्भृतः—सत्कारित; पर्यङ्क—सेजपर; स्थाम्—आसीन; श्रीयम्—लक्ष्मी को; हित्वा—त्याग कर; परिष्वक्तः—आलिंगन किया; अग्र-जः—बड़ा भाई; यथा—मानो।

[राजमहल के निवासियों ने कहा] : इस अस्त-व्यस्त निर्धन ब्राह्मण ने कौन-सा पुण्य-कर्म किया है? लोग उसे नीच तथा निन्दनीय मानते हैं फिर भी तीनों लोकों के गुरु और श्रीदेवी के धाम आदरपूर्वक उसकी सेवा कर रहे हैं। लक्ष्मी को अपने पलंग पर बैठा हुआ छोड़ कर भगवान् ने इस ब्राह्मण का आलिंगन किया है, मानो वह उनका बड़ा भाई हो।

कथयां चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।

आत्मनोर्ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

कथयाम् चक्रतुः—परस्पर विचार-विमर्श किया; गाथाः—कथाएँ; पूर्वाः—पुरानी; गुरु-कुले—अपने गुरु की पाठशाला में; सतोः—निवास कर रहे; आत्मनोः—अपनी अपनी; ललिताः—मनोहर; राजन्—हे राजा (परीक्षित); करौ—हाथों को; गृह्य—पकड़ कर; परस्परम्—एक-दूसरे के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : हे राजन्, एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर कृष्ण तथा सुदामा अत्यन्त हर्ष के साथ बातें करते रहे कि किस तरह कभी वे दोनों अपने गुरु की पाठशाला में साथ-साथ रहे थे।

श्रीभगवानुवाच

अपि ब्रह्मन्गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ।

समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अपि—क्या; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गुरु-कुलात्—गुरु की पाठशाला से; भवता—आपके द्वारा; लब्ध—प्राप्त कर लेने पर; दक्षिणात्—दक्षिणा से; समावृत्तेन—लौट आया; धर्म—धर्म के; ज्ञ—हे जानने वाले; भार्या—पत्नी; ऊढा—विवाहिता; सदृशी—अनुरूप; न—नहीं; वा—अथवा।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, आप धर्म को भलीभाँति जानने वाले हैं। क्या गुरु-दक्षिणा देने के बाद तथा पाठशाला से घर लौटने के बाद आपने अपने अनुरूप पत्नी से विवाह किया या नहीं?

तात्पर्य : सुसंस्कृत मनुष्यों में आश्रम का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, हर मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचारी, विवाहित, वानप्रस्थ या संन्यासी के लिए संस्तुत कर्तव्यों का पालन करे। चूँकि भगवान् कृष्ण देख रहे थे कि ब्राह्मण बहुत ही रद्दी वस्त्र पहने था अतः उन्होंने पूछा कि वह उचित रीति से विवाह करके गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों को सम्पन्न कर रहा है कि नहीं। चूँकि उसने संन्यासी जैसा वेश नहीं बना रखा था, अतः जब तक वह ठीक से विवाहित न हो तब तक वह उपयुक्त आश्रम से विहीन होगा।

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहितं तथा ।

नैवातिप्रीयसे विद्वन्धनेषु विदितं हि मे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

प्रायः—अधिकांशतः; गृहेषु—घरेलू कार्यो में; ते—तुम्हारा; चित्तम्—मन; अकाम-विहितम्—भौतिक इच्छाओं से अप्रभावित; तथा—भी; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अति—अत्यधिक; प्रीयसे—रुचि लेते हो; विद्वन्—हे विद्वान्; धनेषु—भौतिक सम्पत्ति की खोज में; विदितम्—यह ज्ञात है; हि—निस्सन्देह; मे—मेरे द्वारा।

यद्यपि आप गृहकार्यों में प्रायः व्यस्त रहते हैं, किन्तु आपका मन भौतिक इच्छाओं से प्रभावित नहीं होता। न ही, हे विद्वान्, आप भौतिक सम्पत्ति के पीछे पड़ने में अधिक रुचि लेते हैं। मैं यह भलीभाँति जानता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर प्रकट कर देते हैं कि वे अपने मित्र की स्थिति से पूर्णतया अवगत थे। सुदामा वास्तव में विद्वान् और आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत था। इसलिए साधारण मनुष्य की तरह उसकी रुचि सामान्य इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं थी।

केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।

त्यजन्तः प्रकृतीर्देवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ लोग; कुर्वन्ति—करते हैं; कर्माणि—सांसारिक कर्तव्य; कामैः—इच्छाओं से; अहत—अविचल; चेतसः—मन वाला; त्यजन्तः—त्यागते हुए; प्रकृतीः—लालसाएँ; देवीः—भगवान् की भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; लोक-सङ्ग्रहम्—सामान्य जनों को शिक्षा देने के लिए।

कुछ लोग भगवान् की मायाशक्ति से उत्पन्न समस्त भौतिक लिप्साओं का परित्याग करके सांसारिक इच्छाओं से मन को अविचल रखते हुए सांसारिक कर्म सम्पन्न करते हैं। जिस तरह मैं सामान्य जनों को शिक्षा देने के लिए कर्म करता हूँ, वे उसी तरह कर्म करते हैं।

कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन्स्मरसि नौ यतः ।

द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; गुरु-कुले—गुरु की पाठशाला में; वासम्—आवास; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; स्मरसि—स्मरण करते हो; नौ—हम दोनों के; यतः—जिस (गुरु) से; द्विजः—दो बार जन्मा पुरुष; विज्ञाय—जान कर; विज्ञेयम्—जानने के योग्य; तमसः—अज्ञान का; पारम्—पार करके; अश्नुते—अनुभव करता है।

हे ब्राह्मण, क्या आपको स्मरण है कि हम किस तरह अपने गुरु की पाठशाला में एकसाथ रहते थे? जब कोई द्विज विद्यार्थी अपने गुरु से सीखने योग्य सबकुछ सीख चुकता है, तो वह आध्यात्मिक जीवन का आनन्द उठा सकता है, जो समस्त अज्ञान से परे है।

स वै सत्कर्मणां साक्षाद्दिवजातेरिह सम्भवः ।

आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; सत्—पवित्र, शुद्ध किया; कर्मणाम्—कर्मों का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; द्वि-जातेः—दो बार जन्म लेने वाले के; इह—इस भौतिक जगत में; सम्भवः—जन्म; आद्यः—प्रथम; अङ्ग—हे प्रिय मित्र; यत्र—जिससे होकर; आश्रमिणाम्—सभी आश्रमों के सदस्यों के लिए; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; ज्ञान—दैवी ज्ञान को; दः—देने वाला; गुरुः—गुरु।

हे मित्र, व्यक्ति को भौतिक जन्म देने वाला ही उसका प्रथम गुरु होता है और जो उसे द्विज के रूप में ब्राह्मण की दीक्षा देता है तथा धर्म-कृत्यों में लगाता है, वह निस्सन्देह उसका अधिक प्रत्यक्ष गुरु होता है। किन्तु जो सभी आध्यात्मिक आश्रमों के सदस्यों को दिव्य ज्ञान प्रदान करता है, वह उसका परम गुरु होता है। निस्सन्देह वह मुझ जैसा होता है।

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन्वर्णाश्रमवतामिह ।

ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अर्थ—उनके असली कल्याण हेतु; कोविदाः—विशेषज्ञ; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वर्णाश्रम-वताम्—वर्णाश्रम प्रणाली में लगे हुआओं में से; इह—इस संसार में; ये—जो; मया—मेरे द्वारा; गुरुणा—गुरु के रूप में; वाचा—वाणी से; तरन्ति—पार कर लेते हैं; अञ्जः—सरलता से; भव—भौतिक जीवन रूपी; अर्णवम्—समुद्र को।

हे ब्राह्मण, यह निश्चित है कि वर्णाश्रम प्रणाली के सारे अनुयायियों में से, जो लोग गुरु रूप में मेरे द्वारा कहे गये शब्दों से लाभ उठाते हैं और भवसागर को सरलता से पार कर लेते हैं, वे ही अपने असली कल्याण को सबसे अच्छी तरह समझ पाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य का पिता उस धार्मिक नेता की तरह पूजनीय है, जो पवित्र संस्कार कराता है और सामान्य विद्या प्रदान करता है। किन्तु अन्ततोगत्वा ऐसा प्रामाणिक गुरु जो दिव्य विज्ञान में पारंगत होता है और जन्म-मृत्यु के सागर से पार कराकर वैकुण्ठ ले जाने में समर्थ होता है, वह सर्वाधिक पूज्य तथा आदरणीय होता है, क्योंकि वह भगवान् का साक्षात् प्रतिनिधि होता है, जैसाकि यहाँ कहा गया है।

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।

तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; इज्या—अनुष्ठानिक पूजा द्वारा; प्रजातिभ्याम्—ब्राह्मण दीक्षा के उच्चतर जन्म से; तपसा—तपस्या द्वारा; उपशमेन—आत्मसंयम द्वारा; वा—अथवा; तुष्येयम्—तुष्ट किया जा सकता हूँ; सर्व—सभी; भूत—जीवों का; आत्मा—आत्मा; गुरु—अपने गुरु की; शुश्रूषया—श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा; यथा—जिस तरह।

सभी जीवों का आत्मा स्वरूप मैं अनुष्ठानिक पूजा, ब्राह्मण-दीक्षा, तपस्या अथवा आत्मानुशासन द्वारा उतना तुष्ट नहीं होता, जितना कि मनुष्य की अपने गुरु के प्रति की गई श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा तुष्ट होता हूँ।

तात्पर्य : प्रजाति शब्द यहाँ पर सूचक है या तो अच्छी सन्तान उत्पन्न करने या वैदिक संस्कृति में दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म ग्रहण करने का। यद्यपि ये दोनों ही प्रशंसनीय हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण कहते हैं कि प्रामाणिक गुरु के प्रति की गई श्रद्धापूर्ण सेवा अधिक उच्चतर है।

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन्वृत्तं निवसतां गुरौ ।

गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥ ३५ ॥

प्रविष्टानां महारण्यमपतीं सुमहदिद्वज ।

वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्त्वः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; नः—हमारा; स्मर्यते—स्मरण है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वृत्तम्—हमने जो कुछ किया; निवसताम्—एकसाथ रहते हुए; गुरौ—अपने गुरु के साथ; गुरु—गुरु की; दारैः—पत्नी के द्वारा; चोदितानाम्—भेजे गये; इन्धन—ईंधन; अनयने—लाने के लिए; क्वचित्—एक बार; प्रविष्टानाम्—प्रवेश कर चुके; महा-अरण्यम्—विशाल जंगल में; अप-ऋतौ—बिना ऋतु के, असामयिक; सु-महत्—अत्यन्त विशाल; द्विज—हे द्विजन्मा; वात—तेज हवा; वर्षम्—तथा वर्षा; अभूत्—होने लगी; तीव्रम्—भयानक; निष्प्राः—कर्कश; स्तनयित्त्वः—गर्जना।

हे ब्राह्मण, क्या आपको स्मरण है कि जब हम अपने गुरु के साथ रह रहे थे, तो हमारे साथ क्या घटना घटी थी? एक बार हमारे गुरु की पत्नी ने हमें जलाऊ लकड़ी लाने के लिए भेजा और हे द्विज, जब हम एक विशाल जंगल में प्रविष्ट हुए, तो तीव्र हवा और वर्षा के साथ साथ कर्कश गर्जन से युक्त असामयिक तूफान आ गया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यह तूफान जाड़े की ऋतु में उठा था इसलिए असामयिक था।

सूर्यश्चास्तं गतस्तावत्तमसा चावृता दिशः ।

निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्य; च—तथा; अस्तम् गतः—डूब चुका था; तावत्—तत्पश्चात्; तमसा—अंधेरे से; च—और; आवृताः—ढकी हुई; दिशः—सारी दिशाएँ; निम्नम्—निचली; कूलम्—ऊँची भूमि; जल-मयम्—जलमय; न प्राज्ञायत—पहचाना नहीं जा सकता था; किञ्चन—कुछ भी।

तब सूर्यास्त होते ही जंगल प्रत्येक दिशा में अंधकार से ढक गया और बाढ़ आ जाने से हम ऊँची तथा नीची भूमि में अन्तर नहीं कर पा रहे थे।

वयं भृशाम्त्र महानिलाम्बुभिर्

निहन्यमाना महुरम्बुसम्लवे ।

दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने

गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; भृशम्—पूर्णतया; तत्र—वहाँ; महा—महान्; अनिल—तेज हवा; अम्बुभिः—तथा जल से; निहन्यमानाः—घिरे हुए; मुहुः—लगातार; अम्बु-सम्लवे—बाढ़ में; दिशः—दिशाएँ; अविदन्तः—पहचान में न आ सकना; अथ—तब; परस्परम्—एक-दूसरे को; वने—जंगल में; गृहीत—पकड़े हुए; हस्ताः—हाथ; परिबभ्रिम—हम घूमते रहे; आतुराः—दुखी।

जोरदार हवा और अनवरत वर्षा की चपेट में आकर हम बाढ़ के जल में अपना रास्ता भटक गये। हमने एक-दूसरे का हाथ पकड़ लिया और अत्यन्त संकट में पड़ कर, हम जंगल में निरुद्देश्य घूमते रहे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि परिवर्धिम क्रिया में परि उपसर्ग है भृ या भ्रम् धातु के साथ। भ्रम् से सूचित होता है कि कृष्ण तथा सुदामा इधर-उधर भटकते रहे और भृ होने से, चूँकि इसका अर्थ “ले जाना” है यह सूचित होता है कि जब दोनों युवक इधर-उधर घूम रहे थे तब वे अपने गुरु के लिए एकत्र किये लकड़ियों को अपने साथ उठाये हुए थे।

एतद्विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।

अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विदित्वा—जान कर; उदिते—उदय होने पर; रवौ—सूर्य के; सान्दीपनिः—सान्दीपनि; गुरुः—हमारे गुरु; अन्वेषमाणः—ढूँढ़ते हुए; नः—हम; शिष्यान्—शिष्यों को; आचार्यः—हमारे शिक्षक ने; अपश्यत्—देखा; आतुरान्—आतुर, कष्ट पा रहे।

हमारे गुरु सान्दीपनि हमारी विषम स्थिति को समझ कर सूर्योदय होने पर हम शिष्यों की खोज करने के लिए निकल पड़े और हमें विपत्ति में फँसा पाया।

अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।

आत्मा वै प्राणिनाम्प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; हे पुत्रकः—मेरे बच्चो; यूयम्—तुम दोनों ने; अस्मत्—हमारे; अर्थे—लिए; अति—अत्यन्त; दुःखिताः—कष्ट उठाया; आत्मा—शरीर; वै—निस्सन्देह; प्राणिनाम्—सारे जीवों के लिए; प्रेष्ठः—अत्यन्त प्रिय; तम्—उसकी; अनादृत्य—परवाह न करके; मत्—मेरे प्रति; पराः—समर्पित।

[सान्दीपनि ने कहा] : मेरे बच्चो, तुमने मेरे लिए इतना कष्ट सहा है, हर जीव को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, किन्तु तुम मेरे प्रति इतने समर्पित हो कि तुमने अपनी सुविधा की बिल्कुल परवाह नहीं की।

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।

यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—अकेला; हि—निश्चय ही; सत्—असली; शिष्यैः—शिष्यों द्वारा; कर्तव्यम्—करणीय; गुरु—गुरु से; निष्कृतम्—उत्पन्न होना; यत्—जो; वै—निस्सन्देह; विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; भावेन—विचार से; सर्व—समस्त; अर्थ—सम्पत्ति; आत्मा—तथा शरीर का; अर्पणम्—समर्पण; गुरौ—गुरु को।

दरअसल सारे सच्चे शिष्यों का यही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध हृदय से अपने धन तथा अपने प्राणों तक को अर्पित करके अपने गुरु के ऋण से उद्धार हों।

तात्पर्य : कोई भी मनुष्य अपने कार्य की पूर्ति के लिए अपना शरीर लगाता है। यह शरीर “मैं” नामक भौतिक विचार का भी आधार है और मनुष्य का धन “मेरा” का। किन्तु गुरु को अपनी हर वस्तु अर्पित कर देने पर मनुष्य अपने को भगवान् का नित्य दास मानने लगता है। गुरु भी शिष्य को कुमार्ग पर नहीं ले जाता अपितु शिष्य के नित्य लाभ के लिए उसे पूर्णतया कृष्णभावनामृत में लगाता है।

तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्वह परत्र च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तुष्टः—संतुष्ट; अहम्—मैं; भो—हे प्रिय; द्विज—ब्राह्मणों में; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; सत्याः—पूर्ण; सन्तु—हों; मनः-रथाः—तुम्हारी इच्छाएँ; छन्दांसि—वैदिक मंत्र; अयात-यामानि—कभी वृद्ध न हों; भवन्तु—हों; इह—इस जगत में; परत्र—अगले जगत में; च—तथा।

हे बालको, तुम उत्तम श्रेणी के ब्राह्मण हो और मैं तुमसे संतुष्ट हूँ। तुम्हारी सारी इच्छाएँ पूरी हों और तुमने जो वैदिक मंत्र सीखे हैं, वे इस जगत में या अगले जगत में तुम्हारे लिए कभी अपना अर्थ न खोयें।

तात्पर्य : तीन घंटे तक रखा गया पका हुआ भोजन यात-याम कहलाता है, जिससे यह सूचित होता है कि इसमें स्वाद नहीं रहा। इसी तरह यदि कोई भक्त कृष्णभावनामृत में स्थिर नहीं रहता तो वह दिव्य ज्ञान जो कभी उसे आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए उद्वेलित करता था उसके लिए अपना स्वाद या अर्थ खो देता है। अतः सान्दीपनि मुनि ने अपने शिष्यों को आशीर्वाद दिया कि ब्रह्म को प्रकट कराने वाले वैदिक मंत्र उनके लिए कभी अपना अर्थ नहीं खोयें अपितु उनके मस्तिष्क में सदैव ताजे बने रहें।

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मनि ।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान्यूर्णः प्रशान्तये ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्-विधानि—इस तरह की; अनेकानि—अनेक बातें; वसताम्—रहते समय हमें; गुरु—गुरु के; वेश्मनि—घर में; गुरोः—गुरु की; अनुग्रहेण—कृपा से; एव—केवल; पुमान्—पुरुष; पूर्णः—पूर्ण; प्रशान्तये—पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिए।

[भगवान् कृष्ण ने आगे कहा] : अपने गुरु के घर में रहते समय हमें इस तरह के अनेकानेक अनुभव हुए। कोई भी व्यक्ति अपने गुरु की कृपा मात्र से जीवन के प्रयोजन को पूरा

कर सकता है और शाश्वत शान्ति पा सकता है।

श्रीब्राह्मण उवाच

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।

भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरोरभूत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; किम्—क्या; अस्माभिः—हमारे द्वारा; अनिर्वृत्तम्—नहीं प्राप्त किया गया; देव-देव—हे देवों के ईश्वर; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरो—हे गुरु; भवता—आपसे; सत्य—पूर्ण; कामेन—इच्छाओं से; येषाम्—जिनके; वासः—निवास; गुरोः—गुरु के घर पर; अभूत्—था।

ब्राह्मण ने कहा : हे देवों के देव, हे जगद्गुरु, चूँकि मैं पूर्णकाम अपने गुरु के घर पर आपके साथ रह सका, अतः मुझे अब प्राप्त करने के लिए बचा ही क्या है ?

तात्पर्य : सुदामा ब्राह्मण अच्छी तरह समझता था कि यह तो उसका परम सौभाग्य था कि वह अपने गुरु के घर पर श्रीकृष्ण के साथ रह सका। इसलिये उन्हें जो भी कठिनाइयाँ हुई वे गुरु की सेवा की महत्ता बताने के लिए भगवान् की कृपा की अभिव्यक्ति थीं।

श्रील प्रभुपाद ने विद्वान ब्राह्मण के भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है : “ [सुदामा ने कहा] हे कृष्ण! आप भगवान् हैं और सबों के परम गुरु हैं और चूँकि मैं अपने गुरु के घर पर आपके साथ रहने का सुअवसर प्राप्त कर सका अतएव मेरी समझ में नियत वैदिक कर्मों के विषय में अब कुछ और करना शेष नहीं रहा।”

यस्य च्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो ।

श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; छन्दः—वेदों; मयम्—से युक्त; ब्रह्म—परम सत्य; देहे—शरीर के भीतर; आवपनम्—बोया गया खेत; विभो—हे सर्वशक्तिमान; श्रेयसाम्—शुभ लक्ष्यों का; तस्य—उसका; गुरुषु—गुरुओं के साथ; वासः—निवासस्थान; अत्यन्त—अत्यधिक; विडम्बनम्—विडम्बना।

हे विभु, आपका शरीर वेदों के रूप में ब्रह्ममय है और इस तरह जीवन के समस्त शुभ लक्ष्यों का स्रोत है। आपने गुरु की पाठशाला में जो निवास किया, वह तो आपकी लीलाओं में से एक है, जिसमें आप मनुष्य की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत “द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट” नामक अस्सीवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए